

# अपरिग्रह

— नीरज जैन,

एक व्यक्ति मकान बनवाना चाहता था। उसने वास्तुकार से अपने मन का नक्शा तैयार करवाया। नक्शा सचमुच बहुत अच्छा बना था। उसके साथ निर्माण के लिये तकनीकी परामर्श (वर्किंग डिजाइन्स) भी साथ में दी गई थीं। इस सब के लिये धन्यवाद देते हुए वास्तुकार से प्रश्न किया गया - "कभी-कभी नये मकान में भी पानी टपकने लगता है। आप इतनी कृपा और करें कि इस नक्शे में उन स्थलों पर निशान दें जहाँ पानी टपकने की हालत में मरम्मत करानी चाहिए।

प्रश्न सुनकर वास्तुकार चकित था। अपने व्यावसायिक जीवन में पहली बार ऐसे प्रश्न से उसका सामना हुआ था। उसने कहा - 'बन्धु! यदि मेरी डिजाइन के अनुसार निर्माण होगा तो मकान में पानी टपकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। परन्तु, यदि किसी कारण से, कभी, मकान टपकने ही लगे तो उस समय कहाँ मरम्मत करानी होगी, यह आज इस नक्शे में कैसे रेखांकित किया जा सकता है? जब पानी टपके तभी आप देख लें कि पानी कहाँ से टपकता है, बस वहीं मरम्मत करानी होगी।

भगवान महावीर ने हमें अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये भी एक ऐसा नक्शा दिया था जिससे एक छिद्र-रहित भवन हम बना सकते थे। उन्होंने जीवन-निर्माण के लिए कुछ ऐसे तकनीकी परामर्श दिये थे जिन पर यदि अमल किया जाता तो एक निष्पाप और निष्कलंक व्यक्तित्व बन सकता था। हमारे जीवन में पाँच का प्रवेश हो ही नहीं सकता था। परन्तु हम चूक गये। अपने व्यक्तित्व का प्रासाद खड़ा करते समय हमने महावीर के निर्देशों का पालन नहीं किया। इसी का फल है कि हमारे जीवन में पाँच पापों का प्रवेश हो रहा है। यदि हमारा जीवन महावीर की बताई हुई पद्धति पर गढ़ा जाता तो उसमें पाप का पानी टपकने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

अब हमारे सामने समस्या यही है कि अपने सच्छिद्र व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने के लिये हम क्या उपचार करें? हमारे जीवन में जगह-जगह पाप का मलिन जल टपक रहा है, किस तरफ से उस चुअन को रोकने का प्रयास करें?

पाप-प्रवृत्तियों से बचने के लिये महावीर का यही परामर्श है कि निरन्तर आत्म-अवलोकन हम करते रहें और जिस आचरण के माध्यम से हमारे जीवन में पाप का प्रवेश होता दिखे, उस आचरण को पूरी सतर्कता के साथ अनुशासित करने का प्रयत्न करें।

**पाप की जड़ : परिग्रह :-**

पाप तो पाँच होते हैं - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। परन्तु इन पाँचों पापों को हमारे जीवन में प्रवेश करने के लिए अलग-अलग रास्ते नहीं ढूँढने पड़ते। देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार कोई एक पाप हमारे जीवन में आता है और फिर, उसी के माध्यम से, धीरे-धीरे अन्य चार पाप भी प्रवेश पा जाते हैं।

हो सकता है कोई ऐसा देश-काल रहा हो जब मनुष्य के आचरण हिंसा प्रधान रहें हों। हिंसा के माध्यम से ही शेष पाप उसके जीवन में आते हों। हो सकता है किसी समाज रचना में झूठ, चोरी, अथवा व्यभिचार की प्रधानता रही हो, और वही अन्य पापों के आने

मानव बानो। मानवता के विकास में ही साधुत्व, देवत्व और सिद्धत्व का सृजन हो सकता है।

२७३

का द्वार रहा हो। परन्तु आज ऐसा नहीं है।

हिंसा का आनन्द उठाने के लिए, हम में से कोई हिंसा नहीं करता। झूठ का मजा लेने के लिये कोई व्यक्ति अवसर तलाश कर झूठ बोलता ही हो, ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार चोरी और व्यभिचार की प्रधानता आज हमारे समाज में नहीं पाई जाती। ये चार पाप किये बिना कोई अपने आप को अधूरा मानता हो, या दुखी समझता हो, ऐसा भी प्रायः देखने में नहीं आता। परन्तु यह जो पाँचवाँ पाप है उसे करते हम सब अपने आप को आनन्दित मानते हैं।

आज की समाज व्यवस्था में परिग्रह ही शेष चार पापों का द्वार खोलनेवाली व्याधि बनकर हमारे मन-मष्तिष्क पर छाया हुआ है। जीवन में प्रवेश करती हुई पाप-धारा को रोकने के लिये हमें सबसे पहले अपनी परिग्रह-प्रियता पर अंकुश लगाना होगा।

हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील से घृणा करते हुए भी हम परिग्रह से कभी स्वप्न में भी घृणा नहीं कर पाते। उल्टे उसके सान्निध्य में अपने को सुखी और भाग्यवान समझने लगे हैं। यह परिग्रह-प्रियता हमें भीतर तक जकड़ लेती है, और हमारे हित-अहित का विवेक भी हमसे छीन लेती है। आज परिग्रह के पीछे मनुष्य ऐसा दीवाना हो रहा है कि उसके अर्जन और संरक्षण के लिये वह, करणीय और अकरणीय, सब कुछ करने को तैयार है

आज का मनुष्य हिंसक नहीं होना चाहता। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितनी भी हिंसा करनी पड़े वह करता है

आज का मनुष्य झूठ और चोरी में अपनी प्रतिष्ठा नहीं मानता। उनसे अपने आप को सुखी भी नहीं मानता। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना झूठ बोलना पड़े, वह बोलता है, जिस-जिस प्रकार की चोरियाँ करना पड़े, वह करता है।

आज हमारी जीवन पद्धति में व्यभिचार और कुशील निन्दनीय माने जाते हैं। कोई कुशील को अपने जीवन में समाविष्ट नहीं करना चाहता। परन्तु परिग्रह के अर्जन और रक्षण के लिये जितना कुशील-मय व्यवहार करना पड़े, हम में से प्रायः सब, उसे करने के लिये तैयार बैठे हैं।

परिग्रह को लेकर कहीं अनुज अपने अग्रज के सामने आँखे तरेर कर खड़ा है। उसकी अवमानना और अपमान कर रहा है। कहीं अग्रज अपने अनुजको कोर्ट-कचहरी तक घसीट रहा है। परिग्रह को लेकर ऐसे तनाव प्रगट हो रहे हैं कि बहिन की राखी भाई की कलाई तक नहीं पहुँच पाती। परिग्रह के पीछे पति-पत्नी के बीच अन-बन हो रही है और मित्रों में मन-मुटाव पैदा हो रहे हैं।

एक व्यक्ति चरित्र-हीनता के कारण जिस पत्नी को छोड़ रहा है, दूसरा उसी पर मोहित हुआ, उसे पाने के लिये अपनी सती-साध्वी, सुन्दर पत्नी की उपेक्षा कर रहा है। ये होने के पहले ही टूटते हुए रिश्ते, ये चरमराते हुए दाम्पत्य, परित्यक्त पत्नियों की ये सुलगती हुई समस्याएँ, और दहेज की वेदी पर झुलसती-जलती ये कोमल-कलियाँ, हिंसा, झूठ और चोरी का परिणाम नहीं है। ये सारी घटनाएँ व्यभिचार के कारण भी नहीं घट रही हैं। मानवता के मुख पर कालिख मलने वाले, और समाज में सड़ांध पैदा करने वाले ये सारे दुष्कृत्य, हमारी परिग्रह-प्रियता का ही कु फल हैं। गहराई में जाकर देखें तो इनमें से अधिकांश घटनाओं

के पीछे हमारा लोभ, हमारी लालच और भौतिकता के लिये हमारी अतृप्त-आकांक्षाएं ही खडी दिखाई देगीं।

जैन आचार-संहिता में परिग्रह की लोलुपता को सभी पापों की जड़ बताते हुए कहा गया - "मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है। संग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में लोलुपता के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह प्रथम-पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप जीवन में प्रवेश पाते हैं"

**संग णिमित्तं मारई, भणई अलीकं, करेअ चोरिकं,  
सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिमाणो कुणदि जीवो।**

समणसुत्त

पूज्यपाद स्वामी ने धन-वृद्धि की कामना करने वाले पुरुषों पर व्यंग्य करते हुए कहा है - 'आपकी परिग्रह-प्रियता अनोखी है। जैसे जैसे काल बीतता जाता है, वैसे ही वैसे ब्याज आदि के द्वारा आपकी धन-वृद्धि हो रही है जो आपको अत्यन्त प्रिय है। इस दृष्टि में आप यह भी भूल जाते हैं कि ज्यों-ज्यों काल व्यतीत, होता है, त्यों त्यों आपकी सम्पत्ति भले ही बढ़ रही हो, परन्तु उसी अनुपात में आपकी आयु क्षीण हो रही है। इसके बाद भी आप अपनी प्रति-क्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नहीं करना चाहते, यह जानते हुए भी धन की ही आकांक्षा में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप धन सम्पदा को अपने प्राणों से भी अधिक चाहते हैं।'

**आयुवृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कलस्य निर्गमम्  
वांच्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥**

इष्टोपदेश/१५

वास्तव में हमारे आर्थिक चिन्तन में कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य हो रही है। लगता है कि हम अपने जीवन का कोई मूल्य उसके साथ जोड़ नहीं पा रहे हैं। उदाहरण के लिए कोई एक मकान बन रहा है। उसके लिये हमारे पास पूरा तखमीना तैयार है। भूमि के मूल्य से लगाकर ईट, सीमेंट, और वह सब कुछ, जो भवन के निर्माण में लगने वाला है, उस सब की कीमत जोड़कर हमने पूरे मकान की लागत का अनुमान कर लिया है। परन्तु उसे बनवाते समय हमारे जीवन के जो अनमोल वर्ष, या महीने व्यय होने वाले हैं, उसका कोई अनुमानित मूल्य हमारी लागत में शामिल नहीं है।

मकान बनते समय, यदि कई कारीगर मिलकर बनायें तब भी, जब तक एक ईट रखी जाती है, उतनी देर में हमारी एक श्वांस भी निकल जाती है। इस श्वांस का मूल्य किस खाते में जोड़ा गया है? कभी विचार करें कि एक-एक ईट के साथ व्यय होती हुई श्वांसों की भी एक निश्चित सीमा है। जब भवन की आखिरी ईट के निकलने वाली सांस ही यदि हमारे जीवन की आखिरी सांस हो तो उस मकान की लागत क्या होगी?

संसार में अपना गुजारा करने के लिये परिग्रह जोड़ना और उसका संरक्षण करना आवश्यक है। परन्तु उसके जाल में उलझ कर, संग्रह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इच्छाओं की सीमा निर्धारित करके, आकांक्षाओं की असीमता पर अंकुश लगाकर,

सद्ज्ञान के बिना सिद्धी नहीं।

२७५

हम सम्पत्ति के साथ साता, सुख और संतोष का भी अर्जन कर सकते हैं।

यही बात कबीरदास ने अपने शब्दों में कही - "गाय-बैल, हाथी-घोड़े और मणि-माणिक्य, ये सब धन होंगे परन्तु एक इनसे भी बड़ा धन है। वह "संतोष-धन" जब उपलब्ध होता है तो ये सारे धन महत्व हीन हो जाते हैं।"

गो धन, गज धन, बाजि-धन, और रतन धन खान,  
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।

**क्या दिया है परिग्रह ने ?**

आज परिग्रह की मूर्च्छा में से उपजा असंतोष मनुष्य को अनेक वर्जित दिशाओं में ले जा रहा है। कामनाओं से तृषित पत्नी अपने पति से संतुष्ट नहीं है। धन के मद में नित-नई चाह रखनेवाला पति अपनी पत्नी में कोई नवीनता नहीं देख पाता। उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र है। जहाँ व्यभिचार के अवसर नहीं है वहाँ भी मानसिक व्यभिचार निरंतर चल रहा है। जीवन तनावों में कसा हुआ नरक बन रहा है। जिसके पास जो कुछ है, वह उससे संतुष्ट नहीं है।

एक कोयल का बच्चा रो रहा था। उसे अपने काले-कलूटे पंखों पर चिढ़ आ रही थी। अभी-अभी उसने मयूर की पीठ पर सुन्दर सतरंगे पंख देखे थे। उसे भी ऐसे ही लुभावने पंख चाहिये। कोयल जब अपने नन्हें-मुत्रे को समझाते-समझाते थक गई तब उसे लेकर मयूरी के पास चली। शायद उसके गिरे-पड़े पंख पाकर ही बच्चा बहल जाये। पर वहाँ दूसरा ही तमाशा हो रहा था। मयूर का बच्चा मचल-मचल कर रो रहा था। उसे अपनी भोंड़ी आवाज एकदम नापसन्द थी। उसे कोयल की तरह मीठी और सुरीली आवाज चाहिये।

हमारे साथ भी क्या ऐसा ही नहीं हो रहा? जिसके पास जो है, उसमें उसे कोई सुख, कोई संतोष नहीं मिल रहा। परन्तु जो उसके पास नहीं है, और दूसरों के पास है, उसका अभाव उसे निरंतर दुखी किये हुए है। संसार के किसी भी पदार्थ को ले लें, किसी भी उपलब्धि की बात सोच कर देख लें। जिसे वह प्राप्त नहीं है वह उसे पाने के लिये दुखी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त है, वह भी सुखी नहीं वह तो किसी और पदार्थ के लिये, किसी दूसरी उपलब्धि के लिये अपने मन में लालसा पाल रहा है। उसी लालसा में दिन-रात दुखी हो रहा है।

**भिखारी बना दिया है लालसा ने-**

हम अनुभव कर सकते हैं कि आज परिग्रह के प्रति यह अंधी लालसा, सारे पापों और अनीतियों का कारण बनकर हमारे जीवन को प्रदूषित और मलिन कर रही है। यदि इस प्रदूषण से बचकर जीवन को उसकी स्वाभाविक चमक और पवित्रता प्रदान करनी है, तो हमें अपनी परिग्रह-प्रियता पर विचार करना ही होगा। इसका कोई अन्य मार्ग नहीं है।

तृष्णा का दंश बहुत विषहरा होता है। उसकी लहर में मन की प्यास बढ़ती जाती है। चित्त में क्षोभ बना रहता और मनुष्य एक विशेष प्रकार की रुग्ण मानसिकता का शिकार हो जाता है। दो पंक्तियाँ मुझे याद आती हैं-

वह पराधीन हैं, सबसे बड़ा भिखारी है,  
जिसमें अनन्त अभिलाषा है, संतोष नहीं।

राजा या रंक

किसी बादशाह का लश्कर जा रहा था। किसी पड़ोसी राज्य पर चढ़ाई की तैयारी थी। हाथी-घोड़ों, रथ और प्यादों के बीच में एक सजे-धजे हाथी के हौदे पर बादशाह सीना तान कर बैठा था। अकस्मात् एक ओर से एक रूपया सन्नाता हुआ आया और सीधा शहंशाह की नाक पर लगा। वे पीड़ा से तिलमिला उठे। उन्हें हौदे से उतारा गया। कुछ लोग उनके उपचार में जुट गये और कुछ इस तलाश में निकल पड़े कि यह रूपया उन पर किसने फेका। थोड़ी ही देर में वे एक सन्त को पकड़ कर लाये-

“यही वह गुनहगार है जिसने हुजूर को चोट पहुंचाई है।”

शहंशाह तो अपनी चोट की पीड़ा भोग रहे थे परन्तु उनका सेनापति क्रोध से उबल रहा था। बहुत दर्प भरे स्वर में उसने सन्त से प्रश्न किया-“बादशाह पर हमला करने की तुम्हें हिम्मत कैसे हुई?”

“मैंने शहंशाह को चोट पहुंचाने वाला कोई काम नहीं किया। किसी भक्त ने मुझे एक रूपया दिया था। मैंने वह रूपया अपने गुरु की नज़र किया। उन्होंने रूपया मुझे लौटा दिया और कहा - “फकीर कभी रूपया पैसा अपने पास नहीं रखते। इसे किसी जरूरतमन्द को दे देना।

रात भर यह रूपया मेरी झोली में था, लेकिन इसका बोझ मेरे मन पर बना हुआ था। इसके होने का अहसास बराबर मेरी रूह को बेचैन किये हुए था। वह मुझे चुभ रहा था। सुबह से मैं इसी तलाश में इस सड़क के किनारे बैठा हूँ कि कोई जरूरतमन्द नज़र आवे और उसे यह रूपया सौंप कर मैं अपना बोझ हलका करूँ।”

फकीर ने बादशाह की ओर मुखातिब होकर नम्रता से कहा-“आप दिखे, लेकिन आप इतनी ऊंचाई पर बैठे हुए थे कि मुझे यह रूपया निशाना साध कर आपकी ओर उछालना पड़ा। जरूरतमन्द को इतना ऊंचा नहीं बैठना चाहिए कि किसी मददगार का हाथ ही उस तक न पहुंच सके। फिर आपके हाथ में कोई कटोरा भी न था, इसीलिए रूपया आपके चेहरे पर गिरा। मैं सिर्फ आपकी मदद करना चाहता था। आपको चोट पहुंचाना मेरा मकसद नहीं था।”

दर्द के बीच भी फकीर की बातों पर बादशाह को हंसी आ गई। “तुमने मुझे जरूरतमंद और रूपये का मोहताज समझ लिया यह तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है।”

फकीर ने मुस्कुराते पूछा हुए कहा - “जहॉपनाह! मैं तो आपको पहिचानता भी नहीं था। मैंने आपके सिपह-सालारों से ही पूछा। मुझे बताया गया कि आप पड़ोस की रियासत पर चढ़ाई करके उसे अपनी सल्तनत में शामिल करने की गरज से घर से निकले हैं। मैंने अपनी जिन्दगी में बहुत से जरूरतमन्द लोग देखे हैं, लेकिन उनकी जरूरतें बहुत छोटी, बहुत मामूली किस्म की हुआ करती थीं। आप जैसा बड़ा और रौब-दाब वाला जरूरतमंद आज पहलीबार

अंतर में जब अधीरता हो तब आराम भी हराम हो जाता है।

२७७

मैंने देखा। मुझे लगा इससे बड़ा भिखारी शायद तलाशने पर भी मुझे नहीं मिलेगा। बस, यही सोचकर मैंने अपनी झोली का रूपया आपके पास तक पहुंचाने की कोशिश की। जो अपनी ख्वाहिश के लिये दूसरे को नेस्त-नाबूत करने चल पड़ा हो, जो उस मकसद पर अपने चहेतों की जिन्दगी तक कुरबान करने पर तुला हो, उससे बड़ा और सच्चा "जरूरतमन्द" और कौन होगा?"

लोभ और तृष्णा इसी तरह राजा को भी रंक और भिखारी बना देती है। जो आशा और तृष्णा के गुलाम हो गये, वे सारी दुनिया के गुलाम हो जाते हैं, परन्तु आशा को जिन्होंने वश में कर लिया, सारा संसार उनके वश में हो जाता है। वे लोक-विजयी होकर मानवता के मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। यही बात एक नीतिकार ने कही-

आशाया ये दासाः, ते दासा सर्वलोकस्य।

आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः

तब हमें अपनी चिर-पोषित अतृप्त आकांक्षाओं को, और अनावश्यक आवश्यकताओं को, क्या बार-बार परखते नहीं रहना चाहिए? क्या उन पर अंकुश लगाने का प्रयास नहीं करना चाहिए?

देहात के किसी स्कूल में एक दिन दो विद्यार्थी देर से पहुँचे। अध्यापक ने दोनों से विलम्ब का कारण पूछा। पहले विद्यार्थी ने उत्तर दिया "मेरे पास एक रूपया था जो मार्ग में ही कहीं गिर गया। उसे ढूँढ़ने में मुझे देर हुई। रूपया भी नहीं मिला और कक्षा भी गई।" कहते-कहते विद्यार्थी की आँखों से आँसु झरने लगे।

दूसरे विद्यार्थी ने दण्ड के भय से सकपकाते हुए कहा - "इसका जो रूपया खोया था उसे मैं ही अपने पाँव के नीचे दबाकर खड़ा था। बहुत देर तक यह वहाँ से हटा ही नहीं, मैं कैसे वह रूपया उठाता और कैसे वहाँ से चलता। बस, इसी कारण मुझे देर हुई।"

यहाँ घटना की दृष्टि से देखें तो दानों विद्यार्थियों की भूमिका में अन्तर है। एक ने कुछ खोया है, जबकि दूसरे ने कुछ पाया है। परन्तु प्रतिफल की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ही दुखी हुए हैं। अपने कर्तव्य पालन में दोनों को ही विलम्ब हुआ है। उसके लिये दोनों ही दण्ड के भागीदार बने हैं। जिसका कुछ खो गया उसे खोने की पीड़ा है, और जिसे कुछ मिला है उसे छिन जाने का भय त्रस्त कर रहा है। उसे प्राप्ति को अपने पैर के नीचे दबाये रखने की चिन्ता है। और अधिक पाने की लालसा है।

यही तो कारण है कि संसार में सब दुखी ही हैं। जिसके पास कुछ नहीं है वह सम्पत्ति के अभाव की यातना से दुखी है। जिसके पास कुछ है वह परिग्रह के सद्भाव में होने वाले तरह-तरह के दुःखों से दुखी हो रहा है। दुखों को जन्म देने वाली आकांक्षाएं और आकुलताएं सबके मन में हैं, लेकिन सुख को उत्पन्न करने वाली निराकुलता, सहिष्णुता और संतोष यहाँ किसी के पास नहीं है। संतोष और अनाकांक्षा के बिना सुख की कल्पना भी कैसे की जा सकती है?

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है - "हमारे जीवन में दो दुखद घटनाएं घटती हैं। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएं मिलती नहीं हैं। दूसरा यह कि वे हमें मिल जाती हैं।"

“There are two tragedies in life.  
One is not to get your heart's desire.  
The other is to get it.”

George Bernard Shaw

बात खोने की हो या पाने की इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य के मन में संक्लेश ही उपजते हैं। उन्हीं संक्लेशों की पीड़ा उसे भोगना पड़ती है। वह जितना सम्पत्तिशाली होता जाता है, उसकी यह पीड़ा उसी अनुपात से बढ़ती जाती है।

जैनाचार्य गुणभद्रस्वामी ने अपने ग्रंथ में लिखा है - “संसार में हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बड़ा गड़ढा है कि यदि उसमें विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाय, तब भी वह भरेगा नहीं, खाली ही रहेगा। ऐसी स्थिति में किसे, क्या देकर संतुष्ट किया जा सकता है? विषयों की आशा और तृष्णा सदैव उन्हें दुखी ही करती रहेंगी।

तृष्णागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।  
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।

-आचार्य गुणभद्र/आत्मानुशासन

भोग आकांक्षाओं की तृप्ति के लिये विचारकों ने तीनों लोकों की सम्पत्ति को भी अपर्याप्त माना है। अन्त में संतोष रूपी अमृत का पान करने पर ही ज्ञान के आनन्द की उपलब्धि स्वीकार की गई है।-

भोगन की अभिलाष हरन कौं त्रिजग सम्पदा थोरी,  
यातैं ज्ञानानन्द “दौल” अब पियौ पियूष कटोरी।

-दौलतराम अध्यात्म पदावली तथा

गीता में भी कर्म-बन्ध से बचनेका उपाय बताते हुए यही कहा गया कि - “जो कुछ सहजता से प्राप्त हो जाय उसमें संतुष्ट रहनेवाला, हर्ष और शोक आदि द्वन्दों से रहित तथा ईर्ष्या से रहित ऐसा साधक जो अपने अभिप्राय की सिद्धि और असिद्धि में समता-भाव धारण करता है, वह कर्मों को करता हुआ भी कर्म-बन्ध नहीं करता”

यद्दृच्छालाभ संतुष्टो द्वन्द्वतीतः विमत्सरः  
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।  
-गीता/४-२२

वर्तमान समाज व्यवस्था में धन-सम्पत्ति को बहुत अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। आज का समाज-दर्शन तो यह हो गया है कि जिसके पास धन है वही कुलीन है। वही विद्वान् है और वही गुणवान् है। धनवान ही कुशल वक्ता है और वही दर्शनीय, भव्य व्यक्तित्व वाला है, क्यों कि सारे गुण धन के आश्रय से ही रहते हैं-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः, स श्रुतवान् गुणज्ञः,  
स एव वक्ता, स च दर्शनीय, सर्वे गुणाः कांचनमाश्रियन्ति।

फिर जहाँ ऐसी ही सामाजिक स्वीकृति धन को मिली हो, वहाँ उसके उपार्जन के लिये एक पागलपन भरी दौड़ यदि समाज के सभी वर्गों में चल रही हो तो यह अस्वाभाविक तो

विश्व में, तीनों लोकों में यदि कोई महामंत्र है तो वह है मन को वश में करना।

२७९

नहीं है।

दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धन के संचय की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए कहा था - "यदि जीवन में पाप का निरोध हो गया हो तो वह निष्पाप-जीवन ही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नहीं है। और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो किसी भी सम्पदा से हमारे जीवन का उत्कर्ष होने वाला नहीं है। पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमें दुर्गति के गर्त में ही ले जायेगी। ऐसी स्थिति में सम्पदा से क्या प्रयोजन ?

**यदि पाप-निरोधीऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।**

**यदि पापास्रवोऽस्त्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।**

रत्नकरण्ड श्रावकाचार/२७

धन से जहाँ तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो उसी हद तक वह हमारे लिये उपयोगी है। जो धन आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहा हो वह निरर्थक है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक धन का भी कोई उपयोग नहीं है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उतनी ही सम्पत्ति संकलित करने को उचित ठहराया है जितने से हमारे सांसारिक दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह हो सके।

परिग्रह-परिमाण नामके पाँचवें अणुव्रत को "इच्छा-परिमाणव्रत" कहकर जैनाचार्यों ने भी यही कहा है कि व्यक्ति को अपनी इच्छाएं सीमित करके, उनकी पूर्ति के अनुरूप परिग्रह रखना चाहिये। उसके अधिक सम्पत्ति के प्रति उसे कोई व्यामोह या आकाँक्षा नहीं रखनी चाहिये।

सामान्य गृहस्थ के लिये सुखी जीवन बिताने का एक ही उपाय कहा गया है कि वह अपनी आय के भीतर व्यय का संयोजन करके उसी में अपना काम चलाने का संकल्प ले। यदि आय से अधिक व्यय की आदत होगी तो नियम से जीवन में अशांति और असंतुलन रहेगा। आय से अधिक व्यय न हो, उसके भीतर ही जीवन यापन किया जा सके यह एक कला है। इसके माध्यम से जीवन में आनन्द का विस्तार होता है और पूरा परिवार शांति का अनुभव करता है। नीतिकारों ने इसी कला को पाण्डित्य कहा है, इसी को वचन-कौशल कहा है। इतना भर नहीं, उन्होंने गृहस्थ के लिये इसे सबसे बड़ा धर्म कहकर इस कला की सराहना की है-

**इदमेव हि पाण्डित्वं, इयमेव विदग्धता,**

**अयमेव परोधर्मः यदायान्नाधिको व्यवः।**

-नीतिवाक्यामृत/१०८

रहीमने भी अपने खुदा से यही याचना तो की थी कि - "जितने में मेरे परिवार का पेट भर जाय, अतिथि का सत्कार कर सकूँ और मुझे भी भूखा नहीं सोना पड़े, ओ खुदा! बस, मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है। यही मेरी आरजू है।"

**साई इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,**

**मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।**

-रहीम



जिस व्यक्ति के जीवन में इतना घटित हो जाए, वही निर्भीक होकर सम्मान-पूर्ण जीवन जी सकता है। कबीर ने कहा - "वांछा समाप्त होते ही सारी चिन्तायें नष्ट हो गईं। मन निश्चिन्त हो गया। ठीक ही तो है, जिन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिये वे तो शाहों के भी शाह हैं।"

चाह गई, चिन्ता मिटी, मनुवा बे-परवाह,  
जिनकों कछू न चाहिये, सो साहन पति साह।

-कबीर

परिग्रह की लालसा पर अंकुश लगाने का एक मात्र उपाय है संतोष। जब तक हम अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित नहीं करेंगे, और जब तक हम प्राप्त सामग्री में संतुष्ट और सुखी रहने की कला नहीं सीख लेंगे, तब तक तृष्णा की दाहक ज्वालाओं में हमें जलना ही होगा। परिग्रह से मोह बढ़ेगा और उससे तृष्णा की ज्वालायें और ऊंची होती जायेंगी। एक पद की दो पंक्तियां हैं-

रे मन कर सदा संतोष,  
जातें मिटत सब दुख-दोष  
बढ़ै परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिस्ना होत,  
बहुत इंधन जरत जैसे, अगिनि ऊंची जोत।

-दौलतराम/अध्यात्म पदावली

समस्या यह है कि संतोष प्राप्त कैसे हो? सारा जीवन तो भौतिक उपलब्धियों की स्पर्धा की दौड़ बनकर रह गया है। कोई वस्तु जब तक मिलती नहीं है तब तक उसकी प्राप्ति में ही सुख और संतोष दिखाई देता है। जब वह मिल जाती है तब वस्तु तो हम सहेज लेते हैं, परन्तु उसमें सुख या संतोष कहीं दूर-दूर तक दिखाई नहीं देता। तब तक हमारी द्रष्टि किसी अन्य अप्राप्त वस्तु पर लग जाती है। उसके बिना सब कुछ फीका लगने लगता है।

ऋषियों के उपदेशों पर चलकर मनुष्य तम से प्रकाश की ओर बढ़ा हो या नहीं, उसने मृत्यु से अमरत्व की ओर पग बढ़ाये हों या नहीं, परन्तु अपनी परिग्रह-प्रियता से प्रेरित वह भौतिकता के क्षेत्र में उपलब्ध से अनुपलब्ध की ओर निरंतर बड़ी तेजी से दौड़ रहा है। विचार करना चाहिये हमें कि हमारी इस लक्ष्य हीन और थकाने-भरमाने वाली दौड़ का अंत कब होगा? कहाँ होगा? और कैसे होगा?

जहां प्रेम, करुणा, वात्सल्य आहर साधुत्व है उसी की जय होगी।

२८९